



## तकसीम



गुलज़ार

ज़िन्दगी कभी-कभी ज़ख्मी चीते की तरह छलाँग लगाती दौड़ती है, और जगह-जगह अपने पंजों के निशान छोड़ती जाती है। ज़रा इन निशानों को एक लकीर से जोड़ के देखिए तो कैसी अजीब तहरीर बनती है।

**चौ** रासी-पिचासी (84-85) की बात है जब कोई एक साहब मुझे अमृतसर से अक्सर खत लिखा करते थे कि मैं उनका 'तकसीम' में खोया हुआ भाई हूँ। इकबाल सिंह नाम था उनका और गालेबन खालसा कॉलेज में प्रोफेसर थे। दो-चार खत आने के बाद मैंने उन्हें तफसील से जवाब भी दिया कि मैं तकसीम के दौरान देहली में था और अपने माता-पिता के साथ ही था, और मेरा कोई भाई या बहन उन फसादों में गुम नहीं हुआ था,

लेकिन इकबाल सिंह इसके बावजूद इस बात पर बज़िद रहे कि मैं उनका गुमशुदा भाई हूँ। और शायद अपने बचपन के वाकेआत से नावाकिफ हूँ या भूल चुका हूँ। उनका खयाल था कि मैं बहुत छोटा था जब एक काफिले के साथ सफर करते हुए गुम हो गया था। हो सकता है कि जो लोग मुझे बचाकर अपने साथ ले आए थे, उन लोगों ने बताया नहीं मुझे, या मैं उनका इतना एहसानमन्द हूँ कि अब कोई और सूरत-ए-हाल मान लेने के

लिए तैयार नहीं। मैंने यह भी बताया था उन्हें कि 1947 में इतना कम-उम्र भी नहीं था। करीब ग्यारह बरस की उम्र थी मेरी। लेकिन इकबाल सिंह किसी सूरत मानने के लिए तैयार नहीं थे। मैंने जवाब देना बन्द कर दिया। कुछ अरसे बाद खत आने भी बन्द हो गए।

करीब एक साल गुज़रा होगा कि बम्बई की एक फिल्मकार, संई परांजपे से उनका एक पैगाम मिला। कोई हरभजन सिंह साहब हैं देहली में, मुझसे बम्बई आकर मिलना चाहते हैं। मुलाकात क्यों करना चाहते हैं, इसकी वजह संई ने नहीं बताई, लेकिन कुछ भेद भरे सवाल पूछे जिनकी मैं उनसे उम्मीद नहीं करता था। पूछने लगीं, “तकसीम के दिनों में तुम कहाँ थे?”

“देहली में,” मैंने बताया। “क्यों?”  
“यूँ ही।”

संई बहुत खुबसूरत उर्दू बोलती हैं, लेकिन आगे अंग्रेज़ी में पूछा, “और वालिदेन तुम्हारे?”

“देहली में थे। मैं साथ ही था उनके, क्यों?”

थोड़ी देर बात करती रहीं, लेकिन मुझे लग रहा था जैसे अंग्रेज़ी का

परदा डाल रही हैं बात पर, क्योंकि मुझसे हमेशा उर्दू में बात करती थीं जिसे वे हिन्दी कहती हैं। संई आखिर फूट ही पड़ीं।

“देखो गुलज़ार, यूँ है कि आई ऐम नॉट एपोज़्ड टू टैल यू, लेकिन देहली में कोई साहब हैं जो कहते हैं कि तुम तकसीम में खोए हुए उनके बेटे हो।”

यह एक नई कहानी थी।

करीब एक माह बाद बम्बई के मशहूर अदाकार अमोल पालेकर का फोन आया। कहने लगे, “मिसेज़ दण्डवते तुमसे बात करना चाहती हैं। देहली में हैं।”

“मिसेज़ दण्डवते कौन,” मैंने पूछा।

“ऐक्स फाइनेंस मिनिस्टर ऑफ जनता गवरनमेंट, मिस्टर मधु दण्डवते की पत्नी।”

“वह क्यों?”

“पता नहीं! लेकिन वे किसी वक्त तुम्हें कहाँ पर फोन कर सकती हैं?”

मेरा कोई सरोकार नहीं था मिस्टर या मिसेज़ मधु दण्डवते के साथ। कभी मिला भी नहीं था। मुझे हैरत हुई। अमोल पालेकर को मैंने दफ्तर और घर पर मिलने का वक्त बता दिया।



अफसाना बल खा रहा था। मुझे नहीं मालूम था यह भी उसी संई वाले अफसाने की कड़ी है, लेकिन अमोल चूँकि अदाकार हैं और अच्छा अदाकार अच्छी अदाकारी कर गया और मुझे इसकी वजह नहीं बताई। लेकिन मुझे यकीन है कि वह उस वक्त भी वजह जानता होगा।

कुछ रोज़ बाद प्रमिला दण्डवते का फोन आया। उन्होंने बताया कि देहली से एक सरदार हरभजन सिंह जी बम्बई आकर मुझसे मिलना चाहते हैं क्योंकि उनका खयाल है कि मैं तकसीम में खोया हुआ उनका बेटा हूँ। वह नवम्बर का महीना था। इतना याद है। मैंने उनसे कहा कि मैं जनवरी में देहली आ रहा हूँ, इंटरनेशनल फिल्म उत्सव में। दस जनवरी में देहली में हूँगा, तभी मिल लूँगा। उन्हें यहाँ मत भेजिए। मैंने उनसे यह भी पूछा कि सरदार हरभजन सिंह कौन हैं। उन्होंने बताया जनता राज के दौरान वे पंजाब में सिविल सप्लाय मिनिस्टर थे। जनवरी में देहली गया। अशोका होटल में ठहरा था। हरभजन सिंह साहब के यहाँ से फोन आया कि वे कब मिल सकते हैं। तब तक मुझे यह अन्दाज़ा हो चुका था कि वे कोई बहुत आस्थावान बुजुर्ग इन्सान हैं। बात करने वाले उनके बेटे थे। बड़ी इज़्ज़त से मैंने अर्ज़ किया, “आज उन्हें ज़ेहमत न दें। कल दोपहर के वक्त आप तशरीफ लाएँ। मैं आपके साथ चलकर उनके दौलतखाने पर मिल लूँगा।”

हैरत हुई यह जानकर कि संई भी वहाँ थीं, अमोल पालेकर भी वहीं थे और मेरे अगले रोज़ की इस एपोइंटमेंट के बारे में वे दोनों जानते थे।

अगले रोज़ दोपहर को जो साहब मुझे लेने आए वे उनके बड़े बेटे थे। उनका नाम इकबाल सिंह था।

पंजाबियों की उम्र हो जाती है लेकिन बूढ़े नहीं होते। उठकर बड़े प्यार से मिले! मैंने बेटे की तरह ही ‘पैरी पौना’ किया। उन्होंने माँ से मिलाया, “यह तुम्हारी माँ हैं, बेटा।”

माँ को भी ‘पैरी पौना’ किया। बेटे उन्हें दारजी कह के बुलाते थे। दूसरे बेटे, बहुएँ, बच्चे अच्छा खासा एक परिवार था। काफी खुला बड़ा घर। यह खुलापन भी पंजाबियों के रहन-सहन में ही नहीं, उनके मिजाज़ में भी शामिल है।

तमाम रस्मी बातों के बाद कुछ खाने को भी आ गया, पीने को भी आ गया और दारजी ने बताया कि मुझे कहाँ खोया था।

“बड़े सख्त दंगे हुए जी, हर तरफ आग ही आग थी और आग में झुलसी हुई खबरें, पर हम भी टिके ही रहे। ज़मींदार मुसलमान था और हमारे पिताजी का दोस्त था और बड़ा मेहरबान था हम पर और सारा कस्बा जानता था कि उसके होते कोई बेवक्त हमारे दरवाज़े पर दस्तक भी नहीं दे सकता। उसका बेटा स्कूल में मेरे साथ पढ़ा था (शायद अयाज़ नाम लिया

था) लेकिन जब पीछे से आने वाले काफिले हमारे कस्बे से गुज़रते थे तो दिल दहल जाता था। अन्दर-ही-अन्दर काँप जाते थे हम। ज़मींदार रोज़ सुबह और शाम को आकर मिल जाता था। हौसला दे जाता था। मेरी पत्नी को बेटी बना रखा था उसने।

“एक रोज़ चीखता-चिल्लाता एक ऐसा काफिला गुज़रा कि सारी रात छत की मुण्डेर पर खड़े गुज़री। हमीं नहीं सारा कस्बा जाग रहा था। लगता था वही आखिरी रात है, सुबह प्रलय आने वाला है। हमारे पाँव उखड़ गए। पता नहीं क्यों लगा कि बस यही आखिरी काफिला है। अब निकल लो। इसके बाद कुछ नहीं बचेगा। अपने मोहसिन, अपने ज़मींदार से दगा करके निकल आए।

“वह रोज़ कहा करता था, ‘मेरी हवेली पर चलो, मेरे साथ रहो। कुछ दिन के लिए ताला मार दो घर को। कोई नहीं छुएगा।’ लेकिन हम झूठमूठ का हौसला दिखाते रहे। अन्दर ही अन्दर डरते थे। सच बताऊँ सम्पूर्ण काका ईमान हिल गए थे, जड़ें काँपने लगी थीं। सारे काफिले उसी रास्ते से गुज़र रहे थे। सुना था मियाँवाली से हो के जम्मू में दाखिल हो जाओ तो आगे नीचे तक जाने के लिए फौज की टुकड़ी मिल जाएगी।

“घर वैसे के वैसे ही खुले छोड़ आए। सच तो यह है कि दिल ने बांग दे दी थी, अब वतन की मिट्टी छोड़ने का वक्त आ गया। कूच कर चलो। दो

लड़के बड़े, एक छोटी लड़की आठ-नौ साल की और सबसे छोटे तुम! दो दिन का सफर था मियाँवाली तक पैदल। खाने को, जिस गाँव से गुज़रते कुछ-न-कुछ मिल जाता था। दंगे सब जगह हुए थे, हो भी रहे थे लेकिन दंगेवालों के लश्कर हमेशा बाहर ही से आते थे। मियाँवाली तक पहुँचते-पहुँचते काफिला बहुत बड़ा हो गया। कई तरफ से लोग आ-आकर जुड़ते जाते थे। बड़ी ढाढ़स होती थी बेटा, अपने जैसे दूसरे बदहाल लोगों को देखकर। मियाँवाली हम रात को पहुँचे। इसी बीच कई बार बच्चों के हाथ छूटे हमसे, बदहवास होकर पुकारने लगते थे। और भी थे हम जैसे, एक कोहराम-सा मचा रहता था।

“पता नहीं कैसे यह खबर फैल गई कि उस रात मियाँवाली पर हमला होने वाला है। मुसलमानों का लश्कर आ रहा है, खौफ और डर का ऐसा सन्नाटा कभी नहीं सुना। रात की रात ही सब चल पड़े।”

दारजी कुछ देर के लिए चुप हो गए। उनकी आँखें नम हो रही थीं। लेकिन माँ चुपचाप टकटकी बाँधे मुझे देखे जा रही थीं। कोई इमोशन नहीं था उनके चेहरे पर। दारजी बड़े धीरे से बोले, “बस उसी रात उस कूच में छोटे दोनों बच्चे हमसे छूट गए। पता नहीं कैसे। पता हो तो...।”

“तो...”

वह जुमला अधूरा छोड़कर चुप हो गए।

मुझे बहुत तफसील से याद नहीं बेटे, बहुएँ कुछ उठीं। कुछ जगहें बदल के बैठ गए। दारजी ने बताया, “जम्मू पहुँचकर बहुत अरसा इन्तज़ार किया। एक-एक कैम्प जाकर ढूँढ़ते थे और आने वाले काफिलों को देखते थे। बेशुमार लोग थे जो काफिले की शक्ल में ही; कुछ पंजाब की तरफ चले गए, कुछ नीचे उतर गए जहाँ-जहाँ जिस किसी के रिश्तेदार थे। जब मायूस हो गए हम तो पंजाब आ गए। वहाँ के कैम्प खोजते रहे। बस एक तलाश ही रह गई। बच्चे गुम हो चुके थे, उम्मीद छूट चुकी थी।

“बाइस साल बाद एक जत्था हिन्दुस्तान से जा रहा था। गुरुद्वारा पंजा साहब की यात्रा करने, बस दर्शन के लिए। अपना घर देखने का भी कई बार खयाल आया था लेकिन यह भली मानस हमेशा इस खयाल से ही टूट के निढाल हो जाती थी,” उन्होंने अपनी बीवी की तरफ इशारा करते हुए कहा। “और फिर यह गिल्ट भी हमसे छूटा नहीं कि हमने अपने कस्बे के ज़मींदार का ऐतबार नहीं किया, सोच के एक शर्मिन्दगी का एहसास होता था।”

“बहरहाल हमने जाने का फैसला कर लिया, और जाने से पहले मैंने एक खत लिखा ज़मींदार के नाम और उनके बेटे अयाज़ के नाम भी, अपने हिज़रत के हालात भी बताए, परिवार के सभी और दोनों गुमशुदा बच्चों का ज़िक्र भी किया, सत्या और सम्पूर्ण

का। खयाल था शायद अयाज़ तो न पहचान सके, लेकिन ज़मींदार अफज़ल हमें नहीं भूल सकता। खत मैंने पोस्ट नहीं किया, सोचा वहीं जा के करूँगा। बीस-पच्चीस दिन का दौरा है अगर मिलना चाहेगा तो चाचा अफज़ल ज़रूर जवाब देगा। बुलवाया तो जाएँगे, वरना अब क्या फायदा कबरें खोल के। क्या मिलना है।”

एक लम्बी साँस लेकर हरभजन सिंह जी बोले, “वह खत मेरी जेब ही में पड़ा रहा पन्ना जी, मन माना ही नहीं। वापसी में कराची से होकर आया और जिस दिन लौट रहा था, पता नहीं क्या सूझी, मैंने डाक में डाल दिया।”

“न चाहते हुए भी एक इन्तज़ार रहा, लेकिन कुछ माह गुज़र गए तो वह भी खत्म हो गया। आठ साल के बाद मुझे जवाब आया।”

“अफज़ल चाचा का?” मैंने चौंक कर पूछा। वे चुप रहे। मैंने फिर पूछा, “अयाज़ का?” सर को हलकी-सी जुम्बिश देकर बोले, “हाँ! उसी खत का जवाब था। खत से पता चला कि तकसीम के कुछ साल बाद ही अफज़ल चाचा का इन्तकाल हो गया था। सारा ज़मींदारा अयाज़ ही सम्भाला करता था। चन्द रोज़ पहले ही अयाज़ का इन्तकाल हुआ था। उसके कागज़-पत्र देखे जा रहे थे तो किसी एक कमीज़ की जेब से वह खत निकला। मातमपुरसी के लिए आए लोगों में किसी ने वह खत पढ़के सुनाया, तो

एक शख्स ने इत्तला दी कि जिस गुमशुदा लड़की का ज़िक्र है इस खत में, वह अयाज़ के इन्तकाल पर मातमपुरसी करने आई हुई है मियाँवाली से। उसे बुलाकर पूछा गया तो उसने बताया कि उसका असली नाम सत्या है। वह तकसीम में अपने माँ-बाप से बिछुड़ गई थी और अब उसका नाम दिलशाद है।”

माँ की आँखें अब भी खुश्क थीं, लेकिन दारजी की आवाज़ फिर से रुँध गई थी। “वाहे गुरु का नाम लिया और उसी रोज़ रवाना हो गए। दिलशाद वहीं मिली, अफज़ल चाचा के घर। लो जी उसे सब याद था। पर अपना घर याद नहीं। हमने पूछा, वह खोई कैसे। बिछड़ी कैसे हम से। तो बोली, ‘मैं चल-चल के थक गई थी। मुझे बहुत नींद आ रही थी। मैं एक घर के आंगन में तन्दूर लगा था, उसके पीछे जाके सो गई थी। जब उठी तो कोई

भी नहीं था। सारा दिन ढूँढ़ के फिर वहीं जाके सो जाती थी। तीन दिन बाद उस घरवाले आए तो उन्होंने जगाया। मियाँ-बीवी थे। फिर वहीं रख लिया कि शायद कोई ढूँढ़ता हुआ आ जाए। पर कोई आया ही नहीं। उन्हीं के घर नौकरानी-सी हो गई। खाना-कपड़ा मिलता था। पर बहुत अच्छी तरह रखा उसने, फिर बहुत साल बाद, शायद आठ-नौ साल बाद मालिक ने मुझसे निकाह पढ़ाके अपनी बेगम बना लिया। अल्लाह के फज़ल से दो बेटे हैं। एक पाकिस्तान एयरफोर्स में है, दूसरा कराची में अच्छे ओहदे पर नौकरी कर रहा है।”

राईटर्स को कुछ क्लीशे किस्म के सवालों की आदत होती है, जिसकी ज़रूरत नहीं। “वह हैरान नहीं हुई आपको देखकर? या मिलकर? रोयी नहीं?”

“नहीं हैरान तो हुई, लेकिन ऐसी



कोई खास प्रभावित नहीं हुई।”

दारजी ने कहा, “बल्कि जब भी सोचता हूँ उसके बारे में तो लगता है, बार-बार मुस्करा देती थी हमारी बातें सुनकर, जैसे हम कोई कहानी सुनाने आए हैं। उसे लगा नहीं कि हमीं उसके माँ-बाप हैं।”

“और सम्पूरन? उसके साथ नहीं था?”

“नहीं, उसे तो याद भी नहीं।”

माँ ने फिर वही कहा जो इन बातों के दरमियान दो-तीन बार कह चुकी थीं, “पिन्नी (सम्पूरन) तू मान क्यों नहीं जाता? क्यों छुपाता है हम से? अपना नाम भी छुपा रखा है तूने। जैसे सत्या दिलशाद हो गई, तुझे भी किसी ने गुलज़ार बना दिया होगा।” थोड़े-से वक्फे के बाद फिर बोलीं, “गुलज़ार किस ने नाम दिया तुझे? नाम तो तेरा सम्पूरन सिंह है।”

मैंने दारजी से पूछा, “मेरी खबर कैसे मिली आपको। या कैसे खयाल आया कि मैं आपका बेटा हूँ?”

“ऐसा है पुत्र, वाहे गुरु की करनी तीस-पैंतीस साल बाद मिल गई, तो

उम्मीद बँध गई शायद वाहे गुरु बेटे से भी मिला दें। इकबाल ने एक दिन तुम्हारा इंटरव्यू पढ़ा किसी परचे में और बताया तुम्हारा असली नाम सम्पूरन सिंह है और तुम्हारी पैदाइश भी उसी तरफ की है पाकिस्तान की, तो उसने तलाश शुरू कर दी। हाँ, मैंने यह नहीं बताया तुम्हें कि उसका नाम इकबाल अफज़ल चाचा का दिया हुआ था।”

माँ ने पूछा, “काका तू जहाँ मरज़ी है रह। तू मुसलमान हो गया है तो कोई बात नहीं पर मान तो ले तू ही मेरा बेटा है, पिन्नी।”

मैं अपने खानदान की सारी तफसील देकर एक बार फिर हरभजन सिंह जी को नाउम्मीद करके लौट आया।

इस बात को भी सात-आठ साल हो गए। अब सन् 1993 है।

इतने अर्से बाद इकबाल की चिट्ठी मिली और भोग का कार्ड मिला कि सरदार हरभजन सिंह जी परलोक सिधार गए। माँ ने कहलाया है कि छोटे को ज़रूर खबर देना।

मुझे लगा जैसे सचमुच मेरे दारजी गुज़र गए।

**गुलज़ार:** प्रसिद्ध शायर, गीतकार और फिल्मकार। ‘रावी पार’ कहानी संग्रह के लिए साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिल चुका है। ‘स्लम डॉग मिलेनियर’ फिल्म के एक गीत के लिए ऑस्कर अवॉर्ड से सम्मानित।

**सभी चित्र:** जितेन्द्र ठाकुर: एकलव्य, भोपाल में डिज़ाइन एवं प्रोडक्शन इकाई में कार्यरत हैं।

यह कहानी ‘हिन्दी समय डॉट कॉम’ से साभार। **हिन्दी अनुवाद:** शम्भु यादव।

